ISSN: 2321-2160

हिन्दी – मराठी अनुदित साहित्य
(दलित आत्मकथा के विशेष संदर्भ में)

डॉ. जालिंदर इंगले,
हिन्दी विभागाध्यक्ष,
महाराजा सयाजीराव गायकवाड,
कला, विज्ञान एवंम् वाणिज्य महाविद्यालय,
मालेगाव कैम्प,

जब कोई व्यक्ति अपनी जीवनी स्वयं लिखता है तब उसे आत्मकथा कहते हैं। किन्तु अपने चरित्र का विश्लेषण करना सरल नहीं है। क्योंकि यदि लेखक अपने गुणों का वर्णन करता हैं तो आत्मप्रशंसक कहलाता हैं, यदि दोषों का उल्लेख करता है तो यह भय बना रहता है कि कहीं श्रध्दालु जनों की श्रध्दा ही न समाप्त हो जाये और यदि वह अपने दोषों का उल्लेख नहीं करता तो सच्चा आत्मकथा लेखक होने का अधिकारी नहीं है।

हिन्दी में आत्मकथा लेखन की प्रदीर्घ परंपरा है और इसे गद्य की एक विधा के रुप में स्वीकार भी किया गया है। दलित साहित्य में आत्मकथा लेखन 'अस्मितादर्श त्रैमासिक' के माध्यम से प्रकाश में आया। "मी आणि माझे लेखन" (मैं और मेरा लेखन) शीर्षक से दलित साहित्यकारों के आत्मकथन अस्मितादर्श के (1976) दीपावली अंक में प्रकाशित हुए हैं। इसमें सर्वश्री ना. रा. षेंडे, केशव मेश्राम, बंधु माधव, राजा ढाले, योगीराज वाघमारे और ज. वि. पवार के आत्मकथ्य प्रकाशित हुए हैं।

पुस्तक रुपों में भी कई आत्मकथायें प्रकाशित हुई हैं। जैसे, आठवणीचे पक्षी (यादों के पंछी .अनुवादक डॉ. सूर्यनारायण रणसूभे) डायरी शैली में 'मुक्काम पोस्ट देवाचे गोठणे' माधव कोंडविलकर, 'तराळ–अंतराल' शंकरराव खरात, 'उपरा' लक्ष्मण माने 'काटयांवरीची पोट' उत्तम तूपे, 'रामनगरी' राम नगरकर इत्यादि। यहाँ आत्मकथा और आत्म–कथात्मक शैली में लिखे उपन्यास में अंतर करना अनिवार्य है।

दया पवार का 'बलुतं' (हिन्दी अनुवाद 'अछूत') और शरण कुमार लिम्बाले का अक्करमाशी (हिन्दी अनुवाद डॉ. सूर्यनारायण रणसूभे) ऐसे उपन्यास हैं जो लिखे तो हैं आत्मकथात्मक शैली में लेकिन आत्मकथायें नहीं हैं। दरअसल आत्मकथा और आत्मकथात्मक शैली के उपन्यासों में अन्तर की जो सूक्ष्म रेखा है उसे पहचानना, अनिवार्य हैं।

प्रथम शरण कुमार लिंबाले की पुस्तक 'अक्करमाशी' को ही ले। अनुवादक के शब्दों में – "अक्करमाशी का अर्थ है अनावरसपुत्र (जारज), अवैध संतान, समाज व्दारा अमान्य संबन्धों से जन्मी संतति, स्त्री की मजबूरी को देखकर उसे रखैल बनाने वाले सम्पन्न और अमानवीय पुरुष सम्बंधो से जन्मी संतती। ऐसी संतति को मराठी मे अक्करमाशी कहते हैं। इस शब्द का या इसके ठीक वजन का कोई शब्द मुझे नहीं मिल पाया। एक शब्द दुसाध हिन्दी में प्रचलित है परंतु वह अक्करमाशी के वजन का नहीं लगा।"

अक्करमाशी शब्द का प्रयोग महाराष्ट्र के गॉवों में अक्सर होता है। मगर यहॉ थोड़ा विश्लेषण अनिवार्य है। गॉवों में, लड़का या लड़की के विवाह के लिये कुछ बुजुर्ग आते–जाते रहते हैं। जहॉ और जिस घर में लड़का या लड़की को देखना/या देखनी हो, सम्बन्ध जोड़ना हो, वहॉ न जाकर गॉव के अन्य लोगों से उस घर परिवार के बारे में बातचीत की जाती है। जहॉ अक्करमाशी होने की बात पता चलती है, वहॉ सम्बन्ध नहीं होता। अब प्रश्न उठता है कि अक्करमाशी क्या है।

लेखक शरणकुमार लिम्बाले के शब्दों में – "मेरी मां अछूत तो पिता सवर्ण। मां झोपड़ी में, पिता कोठी में। पिता जामींदार, मां भूमिहीन। और मैं ? 'अक्करमाशी' – गॉव, भाषा, मां– पिता, जाति, धर्म इन सभी दृष्टियों से मैं खंडित हूँ। गुमशुदा व्यक्तित्व लिए जीने वाला मेरे अस्तित्व को 'जारज' कहकर सतत अपमानित किया गया है। ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक सभी अपने खानदानी अभिमान और खानदानी अस्मिता लिये जीते हैं। परन्तु यहॉ मेरी अस्मिता पर ही बलात्कार हुआ है। बलात्कारित स्त्री की तरह मेरा यह जीवन। यहॉ की नीति ने मेरे साथ एक अपराधी की तरह ही आचरण किया है। मेरे जन्म को ही यहॉ अनैतिक घोषित किया गया है। उस जीवन की वेदना इस आत्मकथा में है।"

यही बात कुछ आत्मकथाओं को पढ़कर लगती है। 'अक्करमाशी' को पढ़ते हुए अक्सर यह अहसास होता रहता है कि इसके लेखक के मन में इतना आकोश क्यों हैं? यहॉ की संस्कृति से मैं व्देष करता हूँ। रुढ़ियों से चिढ़ता हूँ। पर सिवा व्देष और चिढ़ने के मैं कर भी क्या सकता हूँ? ईश्वर को संतति समर्पित करने की परम्परा केवल पिछड़ी जातियों में ही है। अंबा माई, यल्लम्मा, लक्ष्मी, खंड़ोबा ये महार मातंगो के आराध्य देवता, मसोबा, मरी आई, खोकल्याआई, सटवाई नामों की सूची बढ़ाई जा सकती है। किसी के संतति नहीं हो रही हो तो ईश्वर से मनौती मांग लेते। अंबाबाई से मनौती मांगी लड़की हुई तो, उसका नाम अंबाबाई रख लिया और

Scanned with CamScanner

लड़का हुआ तो अम्बादास। और फिर इन बेटे – बेटियों को 'आराध्यक' के रुप में अंबाबाई के लिये देते हैं। लक्ष्मी से मनौती मांगी बेटी हुई तो लक्ष्मी और बेटा हुआ तो नाम लक्ष्मण। लक्ष्मी को पोतराज के लिये छोड़ा जाता है। खंडोबा पर भी बेटे–बेटियों को छोड़ने का रिवाज है। बेटे को 'वाघ्या' तथा बेटी को 'मुरली' कहा जाता है। यल्लमा के जोगत्या और जोगती होते हैं। मैंने कभी ब्राह्मण पोतराज या लिंगायत 'वाघ्या' को नहीं देखा। दलितो में ही ये रुढ़ियाँ क्यों? भगवान के नाम पर छोड़े गये स्त्री पुरुषों के विवाह नहीं होते। उनका विवाह तो ईश्वर से हो जाता है। देवदासी अपनी मर्जी के पुरुष के साथ जा सकती है। देवदासी की संतान को 'अक्करमाशी' कहते हैं। उन्हें 'बलुत' का अधिकार नहीं होता। ईश्वर के नाम पर भीख मांगकर उन्हें जीना पड़ता है।

देवदासियों की प्रथा कब शुरु हुई यह कहना कठिन है। उसका अंत कब होगा यह कहना भी कठिन है, लेकिन शतकानुशतक हुए फिर भी यह प्रथा अस्तित्व में है। भविष्य पुराण में सात तरह की देवदासियों का उल्लेख मिलता है। दत्ता, विकीता, भृत्या, हता, अलंकृता तथा गोपिका। सूर्यलोक प्राप्ति के लिये सूर्य मंदिर में ये देवदासियाँ नाचती गाती थी। उन्हें हीन समझा जाता था। मध्य युग में इस प्रथा का इतना प्रभाव था कि सभी जातियों में हर घर की एक लड़की देवी को अर्पण की जाती थी। बाद में इनकी ही एक जाति बनी। इ.स. 1000 तंजाबूर के मंदिर में 400, 1909 में कांचीपुरम मंदिर में 100, तथा सोमनाथपुरम के मंदिर में 400 देवदासियाँ थीं। खासकर यह दक्षिण की प्रथा है।

वैसे तो अलग–अलग नामों से औरतों को शरीर बेचने के लिये समाज ने मजबूर किया है लेकिन यह प्रथा ईश्वर के नाम से चलती है और देवार्पित प्रसाद पर सभी का हक होता है। इस तरह बचपन से ही लड़कियों को वेश्या व्यवसाय के लिये तैयार किया जाता है। ओड़िसा में देवदासियों को 'महारिस' कहा जाता है। खंडोबा (देवता) की दासियों को 'मुरळी' 'ज्योतिबा की जोगतिणी' यरुलमा या यल्लमा की जगदंबा अंबाबाई की आराधिणी इत्यादि नामों से देवदासियाँ परिचित है। गोवा में देवदासियों को भावीण कहते हैं।

इस प्रथा का अंत करने का पहला प्रयास मैसूर नरेश ने किया। उन्होंने जांच के लिये शास्त्री पंडितों की एक समिती बनवायी। समिती ने निर्णय दिया कि हिन्दू धर्म शास्त्र में इस प्रथा के लिये कोई आधार नहीं है। तब मैसूर सरकार ने 1910 में कानूनन यह प्रथा बंद की। 1894 में डॉ. भांडारकार ने सौ विचारवंतो के दस्तखतों का एक पत्रक निकाला था। फिर 1924 में डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर ने इस प्रथा के खिलाफ आवाज उठाई थी।

मुंबई सरकार ने 1934 में देवदासी संरक्षण कानून बनाया। 1922 में मद्रास ने, 1932 में सावंतवाड़ी रियासत ने तथा केरल, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों ने भी देवदासी प्रथा के खिलाफ कानून बनाये। मगर, किसी भी समस्या का हल केवल कानून द्वारा नहीं होता। देवदासी प्रथा भी बंद नही हुई। कानून को सामाजिक मान्यता का जोड़ देना पड़ता है, हालांकि कानून भी उतना ही आवश्यक है, जितना लोक मानस का परिवर्तन। हृदय परिवर्तन का काम साहित्य द्वारा थोड़ा बहुत हुआ है।

दिवंगत प्राध्यापक प्र. ई. सोनकांबले की आत्मकथा 'आठवणीचे पक्षी' (हिन्दी अनुवाद . यादों के पंछी) भी कुछ अलग तरह की पुस्तक है। यह आत्मकथा कम संस्मरण अधिक है। लेकिन ये संस्मरण भी अत्यंत हृदय विदारक और मर्मस्पर्शी है। हजारों वर्षो से दलितो पर अत्याचार हो रहे हैं। इसके लिये जैसे अत्याचारी जिम्मेदार है, उसी तरह अत्याचार सहने वाले भी जिम्मेदार हैं।

डॉ. अम्बेडकरजी के आन्दोलन और स्वातंत्र्योत्तर काल में बदली हुई सामाजिक सांस्कृतिक और राजनैतिक घटनाकमों, मूल्यों और स्थितियों के कारण दलितों में शिक्षा का प्रमाण बढ़ता जा रहा है। परिणाम स्वरुप पीढ़ियों के अन्तर के साथ.साथ नयी पुरानी नैतिकता में भी संघर्ष आरंभ हो गया। शिक्षित, अशिक्षित, गरीब और मध्यमवर्गीय अधिकारी और अधिकार विहीन, विद्रोही और लाचार आदि अनेक दरारें दलितों में निर्माण हो गई है। जो पढ़ लिख गये, जो लिखने लगे, उन्होंने अपनी व्यथा. कथा को तो बयान किया, मगर शेष समाज की व्यथा, उन्हें तुच्छ और कम नजर आने लगी। अपनी पीड़ा का महासागर लेकर ये दलित साहित्यकार आत्मकथा, संस्मरण, आत्मकथात्मक उपन्यास आदि लिखते गये। उन्हें अपनी पीड़ा ही अधिक व्याकुल और व्यथित करने वाली लगी। यही कारण है कि अधिकांश आत्मकथायें पढ़ते समय कुछ खास समानतायें नजर आती हैं।

प्रत्येक आत्मकथा पठनीय और हृदय स्पर्शी लगती है। इसके कई कारण हो सकते हैं। जैसे, साहित्य के लिये दलित जीवन की त्रासदी और उसकी अभिव्यक्ति का नाविण्य। दूसरा, ये ऐसे अनुभव है, जो एअर कंडिशन्ड कमरों में बैठकर साहित्य का समीक्षा करने वाले तथाकथित उच्च वर्ग, सपने में भी नही भोग सकता। तीसरा कारण, भाषा और शैली। अभी तक जिस टकसाली भाषा शैली में साहित्य सृजन होता रहा, उस पर इस भाषा शैली ने प्रहार किया और 'महारी', 'मातंगी', 'चमारी', 'भंगी' और इसी प्रकार की अनेक दलित जातीय बोलीयाँ साहित्य में अपना प्रवेश करने लगी। परिणाम, स्वरुप तथाकथित शुध्द भाषा का स्थान इन दलित बोलियों ने ले लिया और साहित्यिक पीठ पर आसीन होन लगी।

सारांशत दलित लेखकों की आत्मकथाओं के जो मराठी से हिन्दी मे अनुदित हुई है उनके सन्दर्भ में इतना ही कहना समीचीन होगा कि ये तमाम, आत्मकथात्मक वृतान्त दलित और दलितेत्तर जीवन का चित्रण तो प्रस्तुत करते हैं, जिनमे दलित जीवन पर दलितेत्तर समाज के द्वारा किये गये अन्याय, अत्याचार, शोषण और उनके द्वारा पोषित गुलामी की तस्वीर अंकित है। परन्तु इन आत्मकथाओं को पढ़ते समय जो तथ्य प्रमुखता से

Scanned with CamScanner

ISSN: 2321-2160

उभर कर आता है। वह यह है कि इनमें हृदय का संवाद कम, कल्पना, और अतिरंजना का पुट अधिक है। भाषा और शैली की सजावट से सजी ये आत्मकथायें मनोरंजक तो हैं ही, इनकी पठणीय पकड़ भी बहुत मजबूत है। पढ़ने पर गंभीर कर देने की क्षमता भी है इनमें लेकिन हृदय के साथ संवाद का अभाव भी खटकता है फिर भी कहीं. कहीं आक्रमक तो कहीं. कहीं व्यंग्यात्मक रुप धारण करती भाषा, कहीं कहीं बड़े ही तटस्थ भाव से अपनी बात कह जाती है।

संदर्भ ग्रंथ :

1) हिन्दी और मराठी दलित साहित्य एक मूल्यांकन – डॉ. सुनीता साखरे
2) प्रयोजनमूलक हिन्दी – डॉ. पुरुषोत्तम वाजपेयी
3) दलित साहित्य चिंतन – डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर
4) हिन्दी साहित्य में दलित चेतना – डॉ. जालिंदर इंगले

डॉ. जालिंदर इंगले,
हिन्दी विभागाध्यक्ष,
महाराजा सयाजीराव गायकवाड,
कला, विज्ञान एवंम् वाणिज्य महाविद्यालय,
मालेगाव कैम्प

આયુધ પ્રકાશન

- પુસ્તક પ્રકાશન (ISBN)
- આયુધ સામયિક (ISSN)
- સુરભિ સામયિક (ISSN)

સંપર્ક
94 28 34 36 35 & 84606 53209
ayudh2013@gmail.com
www.ayudhpublication.com

Scanned with CamScanner